

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६५, वर्ष-१५, जून-२०११

आसो वद ०)), गुरुवार ता.०३-०८-१९७८, 'बहेनश्री के वचनामृत'
बोल-१५६ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीका प्रवचन, प्रवचन नं-५६

करना तो एक ही है - परसे एकत्व तोड़ना। परके साथ तन्मयता तोड़ना ही कार्य है। अनादि अभ्यास होनेसे जीव परके साथ एकाकार हो जाता है। पूज्य गुरुदेव मार्ग तो बिलकुल स्पष्ट बतला रहे हैं। अब जीवको स्वयं पुरुषार्थ करके, परसे भिन्न आत्मा अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है उसमेंसे गुण प्रगट करना है।।१५६।।

एकदम संक्षेप में, धर्म करना हो तो पहले यह करना है। धर्म करना हो उसे। वरना दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ये सब तो अनंत काल से करता है, इसमें कोई धर्म नहीं। वे सब तो शुभ की, राग की पुण्य की क्रियाएँ - बंध का कारण है।

१५६ 'करना तो एक ही है - पर से एकत्व तोड़ना।' आहाहा ! ये 'एकत्व निश्चय गत्' आता है न ? अथवा पाँचवीं गाथा में एकत्व विभक्तवम् (कहा)। 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं कि, यह आत्मा की बात मैं करूँगा। परंतु क्या करूँगा ? कि, इसका आनंदादि ज्ञानस्वभाव है इससे भगवान आत्मा का एकत्व है और पुण्य व पाप के विकल्प जो राग हैं इससे भिन्न है। नौ तत्त्व हैं न ? इसमें शरीर, वाणी, मन ये सब तो अजीव जड़ तत्त्व हैं। इसमें जो हिंसा, जूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना ये व्यवसाय सब पाप भाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि का भाव वह शुभ पुण्य है। (लोगोंने) बाहर में सब मान लिया है। यह व्रत करो, उपवास करो और तप करो इत्यादि...

मुमुक्षु :- दुकान पर बैठा रहे उससे तो अच्छा है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- दुकान पर बैठे या (यह सब करे)
सब जाति अपेक्षा एक ही जाति है - बंध।

यहाँ तो कहते हैं, जिसको आत्मा का हित करना हो, कल्याण करना



हो (इसके लिये बात है)। वरना संसार के ये सब व्यवसायादि तो सब पाप हैं। आहाहा ! १५६। १५६ बोल। गुजराती में ४६ वाँ पन्ना है। गुजराती में ४६ है, १५६ बोल। यह करना है, जिसको हित करना है उसे यह एक करना है। क्या ? कि यह व्यवसाय की क्रिया और शरीर की क्रिया और ये सब क्रियाएँ तो जड़ की जड़ के कारण से होती है, आत्मा उसे नहीं करता। अरे...! ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म ! परंतु अंतर में जो भी हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना ये व्यवसाय के भाव (होते हैं) वे सब पाप हैं। और दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, यात्रा वे सब भाव भी पुण्यरूपी राग हैं। आहाहा ! इसकी बात है।

प्रश्न :- धंधा नहीं करेंगे तो खायेंगे क्या ?

उत्तर :- कौन करता है ? जीव तो विकल्प करता है। खाता कौन है ? खाने की बात तो अपने नहीं आती है ? खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है। नहीं सुना है ? सुना है ? हमारे काठियावार में कहावत है कि, 'खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है।' यानी कि जो रजकण जहाँ आनेवाले है वहीं आयेंगे। बहुत कठिन बातें। धर्म ऐसी चीज़ है।

मुमुक्षु :- मेहनत किये बिना चलता है क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल मेहनत। मेहनत करता है वह पाप का भाव (है)। यह रोटी का टुकड़ा यूँ करना और लेना वह आत्मा की क्रिया नहीं है। जड़ की है। बापू ! तुझे पता (नहीं)। अनंतकाल में तत्त्व क्या चीज़ है (इसकी) खबर (नहीं)। आहा...! यह शरीर, वाणी, मन वह तो मिट्टी है, जड़ धूल है। उसकी जो अवस्था - हालत होती है वह भी जड़ के कारण (होती है), कोई आत्मा के कारण से नहीं। यह ऐसा होता है वह आत्मा के कारण से नहीं। वह तो उसकी अपनी जड़ की दशा है, इससे तो भगवान् चैतन्यज्योत भिन्न है परंतु पुण्य और पाप के विकल्प, राग जो होते हैं वे सब तत्त्व से तो चैतन्य तत्त्व सर्वथा भिन्न है अंदर में। आहाहा !

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह आता है, अज्ञानी के शास्त्र में सब आता है।

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल भी नहीं।

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, वैसे तो सब ऐसा भी नहीं कहते हैं ? दांत यहाँ (पेट में) नहीं है इसलिये चबा-चबाकर खाना। ऐसा कहते हैं न लोग ? बहुत सुना है न ! कौन चबाये ? सुन तो सही ! दांत तो जो है सो जड़, मिट्टी, धूल है। उसकी जो विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं वे सब जड़ की क्रियाएँ हैं। इससे रोटी का टुकड़ा भी नहीं हो सकता। आहाहा ! और दांत का हिलना, ऐसे-ऐसे होना वह आत्मा से नहीं होता, वह तो जड़ की क्रिया है। अरे...! ऐसी बातें हैं। खाने की पर्याय (जैसी है तत्संबंधी) राग (जीव में एक अपेक्षा से) होती है वह खाने की क्रिया होती है वह जड़ की है। रोटी के परमाणु की अवस्थाएँ (ऐसे होती हैं) वह तो परमाणु की अवस्था जड़ की, अजीव की है। भाव होता है खाने का वह पाप है। आहाहा ! ऐसा है।

'करना तो एक ही है...' जिसको आत्मकल्याण करना हो, जन्म-मरण के चौराशी के अवतार के फेरे मिटाने हो (उसे तो यह एक ही करना है)। वरना तो मरकर मनुष्य अनंतबार हुआ, मरकर तिर्यच हुआ, पशु हुआ, कौआ हुआ, कुत्ता हुआ, ऐसे अनंत भव किये हैं। इसमें क्या ? मनुष्य मरकर फिर से तिर्यच होगा। आहाहा ! पशु होगा।

मुमुक्षु :- डराते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री :- डराते नहीं है, जीव की दशा ही ऐसी है। आहाहा ! राग और द्वेष, पुण्य और पाप ऐसे कषायभाव कुछ कषाय - पुण्यादि होंगे तो भी पशु, परंतु जुगलिया का पशु होगा। कर्मभूमि का (नहीं) भोगभूमि का होगा। सूक्ष्मबात है, बापू ! धर्म ऐसी चीज़ है कि जगत को सुनने नहीं मिलती।

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं 'एयत्तविहत्तं दाएहं

अप्पणो' मैं आत्मा अंतर आनंद का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान जिसका स्वरूप है इससे एकत्व नाम अभिन्न है और जो भी पुण्य और पाप के विकल्प, वृत्तियाँ, राग उठता है आहाहा ! इससे वह भिन्न है। उसे हित करना हो तो यह 'करना तो एक ही है - पर से एकत्व तोड़ना।' है ? पढ़ा है कि नहीं ? (भाई !) पढ़ा है कि नहीं ?

मुमुक्षु :- पूरा नहीं पढ़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री :- देखो ! अभी पूरा नहीं (पढ़ा) है ? इतने महीने हो गये तो भी।

मुमुक्षु :- मुम्बई में रहना...

पूज्य गुरुदेवश्री :- मुम्बई में क्या है ? 'मुम्बई' मोहनगरी मार डाले। बड़े-बड़े (कारखाने इत्यादि) आहाहा ! ऐसे में पाँच-पचीस लाख रुपये इकट्ठा हो, या दो-पाँच करोड़ हो जाये... हो गयी बात पूरी। 'हूँ पलोळो ने शेरी सांकडी' ! (घमण्ड हो जाना) - ऐसा हो जाता है। मर गया। आहाहा ! यहाँ तो दूसरी बात है, प्रभु ! वह चीज़ तो कोई तेरी है नहीं और तेरी नहीं है परंतु अंदर में पुण्य और पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव होते हैं वे भी तेरे नहीं हैं, तेरे में नहीं हैं, तू इसमें नहीं है। आहाहा ! भाई ! मार्ग सूक्ष्म, बापू ! जीव के जन्म-मरण कर-करके भाई ! तू निकल गया है। आहाहा ! पशु के, चीटी, कौआ, कुत्ता, नरक के आहाहा...!

भगवान त्रिलोकनाथ तो ऐसा कहते हैं कि नरक का एक क्षण का दुःख प्रभु ! क्या कहें तुझे ? कहते हैं। वह करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से कह नहीं सके प्रभु ! ऐसे क्षण के नरक के दुःख अनंतवार भोगे हैं। भाई ! तू अनंत काल में कहाँ था ? तू है तो आत्मा। तू अनादि से कोई नया तो नहीं बना है, वह तो है ही। तो है वह कहाँ रहा ? आहाहा...! नरक गति और एकेंद्रिय या प्याज और लहसून वे सब में रहा है। आहाहा...! भाई ! तुझे खबर नहीं है कि तू कौन है ? कहाँ है ? किस तरह भटक रहा है ?

यहाँ ऐसा कहते हैं, प्रभु ! एक बार सुन तो सही,

भाई ! आहा...! यह चैतन्यमूर्ति अंदर भगवान सच्चिदानंद प्रभु सत् है, ज्ञानानंद स्वरूप (है) उसे राग से, विकल्प से भिन्न करना और स्वभाव की एकत्वता करना। आहाहा...! जन्म-मरण को मिटाना हो तो यह उपाय है बाकी तो सब व्यर्थ है। समझ में आया ? आहाहा...! पाँचवी गाथा है।

'करना तो एक ही है -पर से एकत्व तोड़ना।'

शरीर, वाणी, मन तो जड़ (हैं) वे तो पर हैं, वे कोई तेरे नहीं हैं और तेरे कारण से नहीं आये। आहाहा...! परंतु अंदर में राग होता है दया, दान, व्रत, भक्ति का, व्यापारादि का, कमाने का, भोगने का भाव (होता है) सो तो पाप है, महा दुर्गति का कारण है। परंतु अंदर में दया, दान, व्रत, भक्ति का, पूजा का, यात्रा का शुभभाव हो यहाँ वह भी दुर्गति है। वह तेरी जाति नहीं, वह तुझे लाभदायक नहीं, प्रभु ! तुझे नकसानकर्ता है। आहाहा...! ऐसी बात कहीं जीव को सुनने नहीं मिले। बेचारों को बहार में कुछ पाँच-पचीस लाख रुपये मिल जाये और पाँच-पचीस हजार हर महीने पैदा होते ही जैसे क्या से क्या हो गया और आहाहा...! मर गया, मार डाला तुने आत्मा को। आहाहा...! भाई ! तुझे खबर नहीं।

करना (तो एक ही है) - 'पर से एकत्व तोड़ना।'

'यह तो महा सिद्धांत है (भाई !) ये आप लोग डाक्टर के इन्जेक्शन दूसरे, और ये इन्जेक्शन दूसरे प्रकार के हैं। आहाहा...! (भाई !) आहाहा...! चैतन्यसूर्य, चैतन्यचंद्र, अंदर विराजमान है। शीतल... शीतल... शीतल... शीतल... शीतल शांत स्वभाव वीतराग अकषाय स्वरूप में विराजमान आत्मा है। अगर (तुझे) धर्म (करना) हो तो तू पुण्य और पाप के राग से भिन्न हो जा अंदर में। उस राग का लक्ष छोड़कर अंदर के लक्ष में जा, जहाँ भगवान चैतन्य स्वरूप विराजमान है। आहाहा...!

'पर के साथ तन्मयता तोड़ना ही कार्य है।' ये पुण्य और पाप के विकल्प, वृत्तियाँ जो उठती हैं उसमें तन्मय है। जैसे 'यही मैं हूँ' ऐसी तन्मयता। उस मयता, उस रूपता ऐसा जो माना है उसे तोड़ना पड़ेगा, प्रभु !

आहाहा...! काम कठिन है। तन्मयता, तत्परता, उस रूपता। भीतर में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, वासना, व्यवसाय के परिणाम (हो) उस परिणाम के साथ प्रभु तन्मय तूने माना है। आहाहा...! वह तन्मय है नहीं। आहाहा...! बहुत सूक्ष्म बात। धर्म को लोगों ने क्या से क्या कर डाला ?! दया पालना, व्रत पालना और उपवास कर डाला वह धर्म ? धूल में भी नहीं है, मर भले ही जाओ न (परंतु इससे धर्म नहीं होगा) वह तो रागरूपी क्लेश है। भाई ! तुझे खबर नहीं।

यहाँ तो पर के साथ तन्मय है उसे तोड़ने का कार्य करना है। 'अनादि अभ्यास होने से जीव पर के साथ एकाकार हो जाता है।' अनादि का है, उसे खबर नहीं है। आत्मा तो है.. है...है...है...है...है...है...है... ऐसे अनंत काल... अनंत काल... अनंत काल... है, है और है। और अनादिकाल से राग के विकल्प के साथ एकाकार मान रहा है। आहाहा...! यह शरीर की क्रिया जो होती है वह तो स्वतंत्र जड़ के कारण (होती), इसमें तो आत्मा का अधिकार कुछ भी नहीं। आहाहा...! परंतु उसकी पर्याय में, दशा में, वर्तमान हालत में जो अंश में पुण्य और पाप की वृत्ति उठती है उसे भी (सिर्फ) तन्मयतापूर्वक तू ने मानी है, है नहीं। आहाहा...! उसमें तू नहीं है, उसमें तू नहीं, वह तेरे में नहीं। अरे ! ऐसी बात अब ! ऐसा धर्म, भाई ! आहाहा...! 'पर के साथ एकाकार हो जाता है।' लीजिये !

'पूज्य गुरुदेव मार्ग तो बिलकुल स्पष्ट बतला रहे हैं।' यहाँ तो बता ही रहे हैं। मार्ग तो खुला बता रहे हैं। बापू ! यहाँ तो ४३ साल तो हो चूके। यहाँ तो पूरा जंगल था। गाय, भैंस बैठते थे। अभी तो करोड़ों रुपये डाल दिये हैं। यह एक ही (परमागम मंदिर) छब्बीस लाख का बना है, यह एक ही इमारत छब्बीस लाख की। वह तो अपने कारण से हुआ, किसी ने कुछ लाया और किया इस बात में कोई दम नहीं है। 'रामजीभाई'ने ध्यान रखा, प्रमुख हैं न वे। इसलिये ये बना। (भाव

(हुआ) विकल्प हुआ था, व्याख्यान पूरा करके बाहर निकलकर पूछते थे। हुआ है ? वे पूछते थे। प्रमुख थे न ! प्रमुख है न ?

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- परंतु मैं ने तो पूछते थे ऐसा कहा न ? पूछते थे ऐसा कहा न ? जाते थे, यहाँ नहीं आते थे वे। निकलते थे तब पूछते थे, क्या किया ? क्यों किया ? और ये हमारे.. क्या नाम ? 'वजुभाई' वे भी इसमें ध्यान देते थे। परंतु ध्यान रखते थे इसलिये हुआ क्या ? भाई ! बहुत मुश्किल काम, भाई ! ये परमाणु तो जड़ है न ? उसकी अवस्था होने का काल जो होगा उस काल में हुआ है। भाई ! तेरे से नहीं। तू उसका कर्ता नहीं, भाई !

प्रश्न :- इजनेर से हुआ है न ?

उत्तर :- बिलकुल नहीं हुआ। 'रामजीभाई' से (नहीं) इजनेर से भी नहीं हुआ और 'रामजीभाई' से नहीं (हुआ) (भाई !) ऐसा काम है, बापू ! आहा...! 'करे कर्म सोहि करतारा' 'नरसिंह मेहता' जुनागढ़ में हो गये हैं। वह तो सुना है न 'नरसिंह मेहता' ? उन्होंने कहा है, 'हूँ करूँ, हूँ करूँ, ए ज अज्ञान है, शकटनो भार जेम श्वान ताणे' बैलगाड़ी होती है न ? बैलगाड़ी। दौसो मन (भार भरा हो) और बैल चलाते (हो)। ठीठा (गाड़ी के नीचे का भाग) नीचे कुत्ता था। वह उसे छूता था (तो उसको ऐसा लगे कि) मैं बैलगाड़ी चला रहा हूँ। वैसे ये व्यवसाय और वाणी और ये क्रिया ये सब में यह कुत्ता जैसा जीव नीचे से छूता है तो उसको ऐसा लगता है जैसे मेरे से हो रहा है (ऐसा मानता है)।

'हूँ करूँ, हूँ करूँ ए ज अज्ञान है, शकटनो भार जेम श्वान ताणे' बैलगाड़ी का भार जैसे कुत्ता खिंचे ऐसे ये सब कुत्ते हैं। (कुत्ते का सिर बैलगाड़ी के नीचे के हिस्से को छूता था तो उसने माना कि गाड़ी मेरे से चल रही है।) आहाहा...! धंधे के Counter पर बैठा हो, ऐसा करो और ऐसा करो न... पाँच-पचीस नौकर हो, दो, पाँच हजार की दिन की आमदानी हो। गये न अभी,

(भाई !) आयेंगे बाद में। ये करोड़पति बैठे। कारखाने बड़े चलते हैं। वे चलाते होंगे ? लोग ऐसा कहते हैं कि ये भाई अभी कर्ता-हर्ता हैं, बड़े भाई गुजर गये, बाप गुजर गये। लड़के लोग ख्याल रखते हैं। पतंग उड़ जाये लेकिन डोर हाथ में रखते हैं। इसतरह ये सारे काम जो रखते हैं उसकी डोर हाथ में रखने से होते होंगे कि नहीं ? सब बात झूठ है। आहाहा...! ऐसा है, बापू ! भाई ! क्या हो ?

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव का यह हुकम है। आहाहा...! प्रभु तेरा उद्धार करना हो, ये जन्म-मरण के चौराशी के अवतार कर करके बापू ! दुःखी दुःखी हो ! वे पचीस, पचास करोड़, ये सब चालीस करोड़वाले शेट गुजर गये न अभी चालीस करोड़। दुःखी थे बेचारे। इसके अलावा हमारे दशाश्रीमाली। भाईने नहीं सुना होगा। डेढ़ साल पहले गुजर गये। गोवा में एक मुमुक्षु थे, गोवा में दो अरब चालीस करोड़। कितने ? दोसो चालीस करोड़। दशाश्रीमाली बनीये 'पाणासणा' के थे। उसकी बहिन-बेटियाँ हमारे यहाँ ब्रह्मचारी हैं। चौसठ ब्रह्मचारी बेटियाँ हैं न ? दो अरब, चालीस करोड़ ! ६१ वर्ष की उम्र। उनकी बहु को हेमरेज हो गया। 'गोवा' में चालीस लाख का बंगला है। दस-दस लाख के दूसरे, दो बंगले हैं और एक-एक लाख की एक-एक आगबोट छोटी, ऐसी तीनसों तो आगबोट हैं। है, अभी है। वह अभी डेढ़ साल पहले गुजर गया। आहाहा...! इसकी बहु को हेमरेज हुआ था इसलिये 'मुम्बई' आया था। इसमें दो-चार दिन अभी हुए होंगे। वह (भाई) तो बिलकुल असाध्य थी। (रात्रि में) उठा (और कहा), मुझे दर्द होता है, बुलाईये डाक्टर को, डाक्टर को बुलाने गये इस बीच तो भाईसाब परगति में चले गये। आहाहा...! बड़ा गृहस्थ था इसलिये मुरदे को वहाँ ले गये। फिर सजाया होगा। परड़तु इस धूल में (क्या है) ? वह मर गया उसे अब क्या है ? आहाहा...! क्या लेकिन चीज़ ! वह चीज़ तेरी कहाँ (है) ? वह तो जगत की धूल है। पैसा तो जगत

की धूल है। तू जीव चैतन्यमूर्ति आहाहा...!

यह तो एक अर्थ किया था, भाई ! (भाई !) थे न आप ? वह चेतन का। चेतन में एक 'त' दो बार करना। चेतन - तो चेत् + तन = ज्ञान जिसका तन है। जाणक स्वरूप ही ज्ञायक जिसका तन है, शरीर है। चैतन्य। चेत - ज्ञान जिसका तन शरीर है। राग भी नहीं है और पुण्य भी नहीं और शरीर भी नहीं। आहाहा...! ऐसा है, बापू ! अरे...! बहुत कठिन काम। आहाहा...!

अरे ! दुनिया को संसार के पाप और व्यवसाय के आगे समय ही कहाँ है। बाईस घंटे, तेईस घंटे (पाप) एकाद घंटा सुनने जाये तो वहाँ ऐसे कुगुरु मिले (कि) उसे लूँट ले, उसका एक घंटा भी (लूँट ले)। 'श्रीमद्' कहते हैं। उसे कहेंगे व्रत करो, उपवास करो और भगवान की भक्ति कर ! लूँट लिया इसका एक घंटा ! आहाहा...! ऐसी बात है, प्रभु !

यहाँ कहते हैं, 'बिलकुल स्पष्ट बतला रहे हैं 'अब जीव को स्वयं पुरुषार्थ करके,...' यहाँ तो स्पष्ट बात ठोक बजाकर कहते हैं कि देह की क्रिया, पर की क्रिया आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। आहाहा...! और उसमें जो पुण्य और पाप के भाव होते हैं वे राग और दुःखरूप हैं। इससे भिन्न होने से तुझे सुख होगा, वरना सुखी नहीं होगा और दुःख में रो-रोकर मर जायेगा। आहाहा...! समझ में आया ? अरबोंपति या करोड़ोंपति सुखी है ? धूल में भी नहीं, सुन ने भाई ! दुख के पर्वत में माथा फोड़ रहे हैं। आत्मा सच्चिदानंद प्रभु! अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु ! उसे तो भीतर में देखा नहीं, माना नहीं और ये सब मेरा-मेरा (करके) मर गया। आहाहा...!

यहाँ कहते हैं 'अब जीव को स्वयं पुरुषार्थ करके, परसे भिन्न आत्मा अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है...' आहाहा...! ऐसी बात ! उसकी यह जो वर्तमान, वर्तमान दशा है न ? चलती हुई दशा, वर्तमान पलटती अवस्था (है) इसके समीप में पूरा ध्रुवतत्त्व है। वह चैतन्य ! ऐसा ध्रुव तत्त्व आहाहा...! उसे 'पुरुषार्थ करके, पर से भिन्न आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है...' भगवान ! आहाहा...!

अरेरे...! कैसे विश्वास आये ? तत्त्व है न ? वस्तु है न ? हयाती धराता हुआ पदार्थ है न आत्मा ? तो इसमें अनंत गुण हैं।

एक एक आत्मा पर से, पर आत्मा से भिन्न, अनंत आत्मा से भिन्न, अनंत रजकण से भिन्न, ऐसे तो अनंत धर्म एक आत्मा में हैं। आहाहा...! इसके अलावा अनंत सामान्य विशेष गुण भी अनंत हैं। उसे क्षेत्र की जरूरत नहीं है कि इतना बड़ा (क्षेत्र हो तो रह सकता है)। आहाहा...!

‘अनंत गुणों से परिपूर्ण है...’ अनंत शक्ति का सागर प्रभु है। आहाहा...! अरे...! परंतु कभी भी नजर की नहीं वहाँ। जहाँ अंदर चैतन्य निधान पड़ा है। राग से हटकर स्वरूप में कभी भी अंदर गया नहीं। क्या यह ऋद्धि और समृद्धि पड़ी है इसमें (उसे देखा नहीं) आहाहा...! यह बाहर की धूल की समृद्धि और घर की चीज़ वस्तु सजाये, दो-पाँच लाख के मलमल आदि के फर्नीचर (करे)... भटकनेवाले हैं, रूलने का रास्ता। आहाहा...! उसमें से गुण प्रगट करना है। गुण नाम पर्याय। आहाहा...! स्फटिकमणि जैसे निर्मल है, वैसे भगवान का स्वरूप तो निर्मल शुद्ध है परंतु इसकी दशा में राग और द्वेष करके अनंत काल से चारगति के भव अनंत किये। आहाहा...! और अभी भी अगर भिन्नता नहीं की तो ये चार गति में भटकने के रास्ते, पंथ पर है। ये कौआ, कुत्ता और पशु के, तिर्यच के अवतार। आहाहा...!

पशु क्यों कहते हैं ? यह पशु है न तिर्यच ? यह मनुष्य ऐसे हैं, खड़े हैं न यूँ ? और गाय, भेंस, घोड़ा, हाथी यूँ टेढ़े हैं। गिलहरी, मोर, यूँ टेढ़े हैं न ? तिर्यच टेढ़े हैं। वे क्यों टेढ़े हो गये ? कि पूर्व में राग-द्वेष का टेढ़ापन बहुत किया था। इसलिये तिर्यच में तिरछा शरीर मिला। टेढ़े (परिणाम) अंतर में किये तो शरीर उसे टेढ़ा मिला। ऐसी बात है, बापू !

‘गोम्मटसार’ में पाठ है। तिर्यच, तिर्यच कहते हैं न ? तिर्यच, तिर्यच नाम तिरछा। तिरछा नाम टेढ़ा। यह मनुष्य का शरीर ऐसे है। (खड़े) गाय, भेंस, गिलहरी,

नेवला, आदि को टेढ़े शरीर हैं। ऐसे अनंत अवतार किये। क्यों ? कि पूर्व में पुण्य और पाप के भाव (से भिन्नता नहीं की) बहुतों को तो तिर्यच में जानेवाले को पाप के (भाव) हैं। परंतु किसी के पुण्य के भाव हो तो वह अकर्मभूमि का जुगलिया हाथी होता है। आहाहा...! परंतु वह तिर्यच है। तीन पत्य का तो लंबा आयुष्य है। वह सूक्ष्म बात है। अभी सब का निर्णय करने जाये तो समय लग जाये। Logic से सब बात सिद्ध हो सकती है। समझ में आया। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने तो न्याय से जो बात सिद्ध की है वह युक्ति से सब सिद्ध हो सकती हैं। आहाहा...!

कहते हैं, तू राग का विकल्प जो है, चाहे तो भगवान गुणी है और उसमें अनंत आनंद हो, ऐसा जो विकल्प - राग उठे, उस राग से भी भिन्न भगवान है। अरे...! इतनी हद तक जाना। अभी तो शरीर से भिन्न मानना कठिन पड़ता है। आहाहा...! ये तो हड्डी, मिट्टी है इसमें क्या है ? आहाहा...! माता के पेट में एक रक्त का बिंदु और एक वीर्य का बिंदु। ये ऋतु आती है न ? तत्पश्चात मासिक अटकता है इसका कारण वह कि इसमें जीव आया। इसलिये मासिक - ऋतु बंद हो जाती है। क्योंकि वहाँ अब शरीर बनने के रजकण चौंटते हैं। आहाहा...! आया दूसरे भवमें से और यहाँ बिंदु और रक्त का (रजकण) उसमें आया बाद में आहिस्ता... आहिस्ता... आहिस्ता उसमें से अंग-उपांग बनते हैं। सवा नौ महीने के बाद बाहर आता है। अरे...! ऐसे तो अवतार प्रभु ! अनंत किये तुने, भाई ! तू भूल गया। भगवान को भूला और अवतार किया उसे भी भूल गया। भगवान यानी आत्मा त्रिलोकनाथ उसे भूला और अवतार किये अनंत उसे भी भूल गया। आहाहा...! **‘गुण प्रगट करना है।’** (१५६ बोल पूरा हुआ।)





बहिनश्री के वचनमृत ८९ पर पूज्य भाईश्री
शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं. ७३
(दि.१८-४-१९८७)

मुनिराज को एकदम स्वरूपरमणता जागृत है। स्वरूप कैसा है ? ज्ञान, आनन्दादि गुणों से निर्मित है। पर्याय में समताभाव प्रगट है। शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है; निर्मानता है; 'देह जाय पर माया होय न रोममें'; सोना हो या तिनका - दोनों समान हैं। चाहे जैसे संयोग हो - अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़े त्यों-त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है।।८९।।

मुमुक्षु :- (हिन्दी में लीजीये) !

पूज्य भाईश्री :- ८९ वाँ बोल मुनिदशा का है। धन्य मुनिदशा ! इसलिए ये मुनिदशा के आगे धन्यवाद का विशेषण है (क्योंकि) गृहस्थ में ऐसी दशा की भावना धर्मात्मा को सदा रहती है। सदा रहती है कि, ऐसी मेरी दशा कब हो ? मुनिदशा माने स्वरूप स्थिरता। अपने ज्ञानानंद स्वरूप में निराकुल शांत भाव से स्थिर रह जाना और अपने स्वरूप की शांति, आनंद और सुख को भोगते रहना, ऐसी भावना (है), अत्यंत सुखी होने की भावना (है)। 'एगंत सोही मुनि वीतरागी'

इस विश्व में कौन सुखी है ? कि, अकेला एक मुनि ही, एगंत - अकेला मुनि ही सुखी है। कैसा मुनि सुखी है ? कि, वीतरागी मुनि ही सुखी है। जिसने राग-द्वेष का अभाव किया, नाश किया इसलिए राग-द्वेष का दुःख जिसको नहीं है और वीतरागता का जिसको सुख है ऐसे मुनिओं की कैसी दशा होती है उसकी महिमा करते-करते (यहाँ) उसका वर्णन किया (है)।

'मुनिराज को एकदम स्वरूपरमणता जागृत

है।' एकदम माने बहुत जोर से, स्वरूप रमणता में वे जागृत हैं, ऐसे मुनि होते हैं। अपने स्वरूप में रमणता करना माने लीन रहना, अपने स्वरूप की परिणति में ही लीन रहना और मैं परिपूर्ण ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा हूँ ऐसी तीव्र जागृति रहना।

'गुरुदेव' के प्रवचन में ऐसी बात आती है कि, मुनिराज इतने जागृत हैं कि वे नींद में भी जागृत हैं। अल्प नींद लेते हैं तो उसमें भी वे जागृत हैं। चैतन्य की जागृति वहाँ नहीं छूटती। जब नींदमें से वे जागृत होते हैं, तो उनको ये पता चलता है कि, नींद में भी मैं मेरे स्वरूप में तो जागृत ही था। मेरे स्वरूप के विषय में मुझे नींद आ गई है, ऐसा तो परिणाम नहीं चला, ऐसी मेरी दशा नींद में नहीं रही। ऐसा पता उनको चलता है। उपयोग से पता चलता है। तो फिर जागृति में तो जागृति है ही।

एकदम माने इतने स्वरूप जागृति की उग्रता में हंमेशा परिणमन करते हैं। जिस स्वरूप में वे जागृत हैं, जिस आत्मस्वरूप में वे जागृत हैं वह स्वरूप कैसा है ? कि 'ज्ञान, आनंदादि गुणों से

निर्मित है। इससे इसकी रचना हुई है। रचना माने कोई नई रचना हुई है वह बात नहीं है कि कोई नई रचना हो गई है। लेकिन रचित ही है। यानी ऐसा ही बनाबनाया हुआ है, नया बनाया हुआ नहीं है। जिसमें केवलज्ञान जैसा अनंतज्ञान भरा है और जिस आनंद की कोई हद नहीं (इतने आनंद से) भरपूर है ऐसा अपना स्वरूप है, उसमें वे जागृत हैं, इसलिये बाहर की किसी भी प्रकार की चीज़ की आवश्यकता है इस बात का वे अनुभव नहीं करते, ऐसा महसूस नहीं करते कि, मुझे कोई चीज़ की आवश्यकता है, ऐसा अनुभव कभी नहीं करते, कि मुझे ये चाहिये, मुझे वह चाहिये, इससे मुझे वह चाहिये, इससे मुझे अनुकूलता रहेगी, ये ठीक रहेगा। यह बात उनको विकल्प में नहीं आती।

मुमुक्षु :- ऐसा क्यों ?

पूज्य भाईश्री :- ऐसे ज्ञानानंद में (रहते हैं), वे आनंद में ऐसे पड़े हैं। ये अनुकूलता मुझे हो ऐसी आकुलता उनको नहीं होती। विकल्प और इच्छा कब होती है ? कि कोई पदार्थ प्राप्त नहीं है, अप्राप्त पदार्थ की इच्छा सम्बन्धित आकुलता (होती है) वह तो दुःख भाव है। मुनि को इतना दुःख है ही नहीं। दुःखमें से ये इच्छा उत्पन्न होती है। मेरे पास पैसे नहीं, मेरे पास खाना नहीं, मेरे पास वस्त्र नहीं, मेरे पास मकान नहीं, मेरे पास मेरा समाज नहीं, इसका दुःख सामान्य मनुष्य को होता है, एक दुःखवश भाव होता है। तो वे उतने दुःख में हैं ही नहीं। इतना दुःख ही नहीं है, तो दुःखीत भाव भी नहीं है। दुःख का भाव नहीं है। बस ! अपने सुख में पड़े हैं। यह सुख में से और आनन्दमें से बाहर निकलना उनको अच्छा नहीं लगता। इसलिये उनको स्वरूपमंथर कहते हैं (अर्थात्) आलसी हैं। स्वरूपमें से, आनन्दमें से बाहर निकलने के आलसी हैं। उनको आलस आती है। यहाँ से बाहर निकलना (अच्छा नहीं

लगे।)

ऐसे स्वरूप में वे जागृत रहकर परिणमन करते हैं। ऐसे परिणमन में पड़े हैं। **'पर्याय में समताभाव प्रगट है।'** विषमभाव का नाश किया हुआ है। राग-द्वेष की विषमता का अभाव कर दिया, नाश कर दिया और पर्याय में समपरिणाम, ज्ञाता-द्रष्टापना का परिणाम, समपरिणाम ऐसा सहजरूप से उत्पन्न हो गया। पर्याय में कोई विषम राग-द्वेषरूप परिणमन होता नहीं। ऐसा समभाव (प्रगट है)।

'शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है।' किसी भी जीव के प्रति यह मुझे प्रतिकूलता देनेवाला है ऐसा विकल्प नहीं है। कोई प्रतिकूलता देनेवाला हो तो भी ! ऐसा नहीं कि, प्रतिकूलता नहीं देते हैं इसलिये किसी के प्रति शत्रुता का भाव नहीं है। कोई प्रतिकूलता करने का इरादा रखता (है) और उसकी चेष्टा करता है, उसके प्रति भी उनको शत्रु की कल्पना नहीं होती। शत्रु माने मुझे ये प्रतिकूलता देगा, दे रहा है, दोनोंमें से एक (भी) बात नहीं है। वर्तमान में देता नहीं, दे सकता नहीं, भविष्य में भी वह दे सकता नहीं या देगा वह बात मेरे लिये कोई विकल्प का विषय नहीं है। क्योंकि जगत में कोई भी प्रसंग मेरे लिये प्रतिकूल है ही नहीं। सभी प्रसंग ज्ञाता के ज्ञेय हैं। मैं ज्ञान हूँ, सब पदार्थ ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं, इससे कोई दूसरा स्थान इसमें नहीं है।

मुमुक्षु :- श्रेणीक महाराजा ने मरा हुआ सर्प डाला तो उनको तो प्रतिकूलता हुई थी।

पूज्य भाईश्री :- कुछ नहीं हुआ। बस ! आनन्द में डूब गये। सर्प डाला, सर्प का मुर्दा - देह का मुर्दा था उसमें चींटियाँ हो गई, वे चींटियाँ तो काटे भी (लेकिन) स्वरूप में लीन हो गये, आनन्द में डूब गये, आनन्दसागर में, आत्मा आनन्द अमृत का सरोवर है, उस सरोवर में वे तो डूब गये। अन्दर स्वरूप का जो समुद्र है (वह) डोलता

है, सारा समुद्र अन्दर में डोलता है। उसमें वे डूबकी लगाते हैं। कुछ भान नहीं रहता कि देह है की नहीं है। जब देह का भान भूल जाते हैं तो देह पर सर्प लगा है और दूसरी चीटियाँ वगैरे हैं उसका भान भूल जाते हैं।

मुमुक्षु :- शत्रुता नहीं रहती।

पूज्य भाईश्री :- नहीं, वे ते समझे कि अपने को क्या पता कोन है ? कैसा है ? अपने अपना काम करो न। जैसे कोई Main road पर दुकान लगाई। सारे दिन Traffic चलता है। आदमी Traffic को देखे कि अपना काम करे ? आपकी दुकान थी, तो ग्राहक आवे उसको कपड़ा देवे ? या यह घोड़ा निकला, यह गाड़ी निकली, यह सायकल निकली, यह स्कुटर निकला, यह मोटर निकली उसको देखते रहें ? (उसीको देखता रहे) तो धंधा बंद हो जायेगा। (इस प्रकार) ज्ञान के ज्ञेय में सब पदार्थ Traffic हैं। वह ज्ञान अपना ज्ञानानुभव में रहता है, Traffic को नहीं देखता। कभी ध्यान जाता है तो देखा-नहीं देखा, सुना-नहीं सुना हो जाता है। फिर अपने स्वरूप के कार्य में लग जाते हैं।

'शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है;...' कोई सेवा करने को आवे, 'महाराज ! आप हमारे गुरु हैं, आपकी सेवा करना हमारा धर्म है।' तो उसको अनुकूलता की दृष्टि से नहीं देखते। यह मुझे अनुकूलता देनेवाला है, वह धर्मानुरागी जीव है इसलिये अच्छा है, और यह मेरे को प्रतिकूलता देनेवाला है, दुःख उत्पन्न करानेवाला है इसलिये वे उसको दूसरी नजर से देखे, उसको दूसरी नजर से देखे (ऐसा नहीं है)। दोनों को एक समान नजर से देखते हैं।

वह कैसे बन सके ? जब दोनों की पर्याय विरुद्ध हैं, एक का भाव द्वेष का है, एक का भाव राग का है तो फिर दोनों को समान कैसे देख सके ? क्या राग-द्वेष को नहीं समझते ?

दोनों का आत्मा एक सरीखा है, जिसमें पर्याय गौण है - राग-द्वेष की पर्याय जिसमें गौण है। दोनों एक जाति के आत्मा हैं और राग-द्वेष भी ज्ञान का तो ज्ञेय ही है। न दूसरे का राग मुझे अनुकूल है, सुहाता है, न दूसरे का (द्वेष) प्रतिकूल है (या) मुझे कोई दुःख देता है। उसका द्वेष मुझे कोई दुःख नहीं देता, उसका राग मुझे सुख नहीं देता। इसका द्वेष इनकी पर्याय में है, उसका राग उसकी पर्याय में है। मेरे द्रव्य में, गुण में, पर्याय में कोई आता नहीं, न स्पर्श करता है। फिर मेरे लिये तो दोनों ज्ञान में प्रतिबिंब होते हैं। विभिन्न प्रकार के ज्ञेय, विभिन्न प्रकार के होते हुए भी ज्ञेय सामान्यरूप है। सामान्य ज्ञेय ! विशेष ज्ञेय को गौण कर देते हैं। ज्ञेय सामान्य के स्थान में उसको रखते हैं, अपने ज्ञान को ज्ञान सामान्य के स्थान में रखते हैं। बस ! एक समभाव हो गया। एकसरीखा भाव (हो गया)। ज्ञानसामान्य, ज्ञेयसामान्य। बस ! उसको समभाव कहते हैं।

ऐसे समताभाव में 'शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है;...' शत्रु-मित्र का विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। अनुकूल-प्रतिकूल का विकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। वह साम्यभाव है। समताभाव है वह साम्यभाव है, साम्यभाव है वही धर्मभाव है, यही मोह, क्षोभ, रहित आत्मपरिणाम है। 'प्रवचनसार'का शुरु में अधिकार चला है कि मुनिराज को ऐसा धर्म होता है, 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' मुनिदशा के उस भाव (को) शुरु से ही व्यक्त करते हैं। मेरी दीक्षा की यह स्थिति है, दीक्षा के लिये मैं तैयार हुआ हूँ। इसलिये दीक्षा के प्रसंग में मैं पंचपरमेष्ठी का आदार करता हूँ, आह्वान करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ - ऐसा करके ग्रन्थ का प्रारंभ करते हैं। उसमें शुरु में यह बात ली है कि, 'चरित्त खल्लु धम्मो' चारित्र है वह धर्म है, धर्म है वह साम्य है, साम्य है (वह) मोह, क्षोभ रहित आत्मपरिणाम है। यह आत्मा का परिणाम है। बहुत

प्रचुर वीतरागी भावनामें से ये सब गाथायें निकली हैं।

‘शत्रु-मित्र के विकल्प रहित है; निर्मानता है;...’ बाहर में केवलज्ञानी को देखते हैं, अन्दर में अपने अनन्त केवलज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्व को देखते हैं, और वर्तमान अवस्था को उसके पास अल्प देखते हैं। वर्तमान अवस्था की अल्पता है इसलिये उसकी निर्मानता है। मैं महामुनि हो गया हूँ ऐसा मुनिपना का अहंभाव उनमें (नहीं होता)। यानी आठ प्रकार के मदमें से किसी एक भी प्रकार का विकल्प होता नहीं।

निर्मान है, निर्भय है, निर्भ्रात है, निर्ममत्व है बहुत शब्द लिये हैं इसमें... ‘नियमसार’ की गाथा में ! निर्मानता है, गुरु के स्थान में हैं, वैसे तो समाज में वे गुरु के स्थान में है, निर्ग्रथ गुरु हैं। समाज के सभी - जितने भी (लोग हैं) उनके लिये पूज्य हैं। क्योंकि इतने गुणवान हैं, अपनी दशा में इतने विशेष हैं, पवित्र हैं। पवित्रता के लिये पूजनीय हैं, फिर भी मेरे से दूसरा अवगुणवाला है और मैं गुणवान हूँ - ऐसी दृष्टि से वे नहीं देखते। इस दृष्टि से नहीं देखते। इतनी दशा हुई तो इसमें क्या हो गया ? मैं तो ज्ञायकतत्त्व हूँ इसके आगे (इस) दशा का मूल्य क्या है ? इसमें अहंपना करने का वह स्थान ही नहीं है।

‘ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो’ प्रमत्त-अप्रमत्त मैं हूँ ही नहीं न ! मुनि होकर ऐसा कहते हैं। दूसरे लोग तो ऐसा कहते हैं कि, आप तो मुनि हुए नहीं और फिर प्रमत्त-अप्रमत्त का कैसे निषेध करते हैं ? तो (कहते हैं कि), अभिप्राय में तो वही बात है। जब तो मुनिदशा आती है। कहाँ से निकली मुनिदशा ? पहले ऐसा अभिप्राय बनता है, बाद में दशा आती है। अभिप्राय पहले बदलता है, दशा बाद में बदलती है। पहले दशा हो जाये फिर अभिप्राय बदले ऐसा कभी बनता नहीं।

प्रश्न :- समझ में नहीं आया प्रमत्त-अप्रमत्त

का क्या है ?

समाधान :- प्रमत्त माने छटा गुणस्थान, जिसमें पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति, अठाईस मूलगुण का पालन होता है। नग्न दिगंबर दशा, जंगलवास, एक दफे खड़े-खड़े आहार करना, आहार-पानी एक समय (लेना), अदंतधोवन, किसी भी प्रकार का किसी भी अंग में शृंगार नहीं, कुछ लगाना नहीं, भभूत लगाना नहीं, राख लगाना नहीं, चंदन लगाना नहीं, तेल लगाना नहीं, कुछ लगाना नहीं, पानी भी लगाना नहीं, स्नान नहीं, अस्नानता है। छठे गुणस्थान में बाह्य संयम का इस प्रकार का विकल्प है, और सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प शुद्धोपयोग - वीतरागी उपयोग में देह से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव होना। ज्ञान-ध्यान ! स्वरूपज्ञान और स्वरूपध्यान में लीनता हो जाना, इससे भी भिन्न मैं ज्ञायकतत्त्व हूँ, इससे भी भिन्न (हूँ)। एक समय की अवस्था से भिन्न त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व हूँ ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवाला करता है, पंचम गुणस्थानवाला करता है, मुनिराज भी ऐसा ही अनुभव करते हैं।

प्रश्न :- आत्मा का अनुभव - उसमें अलग कैसे ?

समाधान :- क्यों त्रिकाली तो उनसे अलग है न ! वह तो क्षणिक अवस्था है। उसका नाश होवे तो खुद का नाश होता है। ध्यान का नाश होने से ध्येय का नाश नहीं होता। इसलिये मैं ध्येयस्वरूप हूँ एक समय के ध्यानस्वरूप मैं नहीं। यह जैनदर्शन की गूढ चीज है। यह बहुत गहरी चीज है।

धर्म-अधर्म दोनों अवस्था की चीज हैं। धर्म और अधर्म दोनों अवस्था की चीज हैं। अवस्था से पार कोई तत्त्व है सो मैं हूँ। ऐसा अन्तर अवलंबन (लेना) वही धर्म है। जिसमें उसी धर्म की मुख्यता नहीं। अन्तर अवलंबन लेनेवाली पर्याय की भी मुख्यता नहीं। यह कोई विशिष्ट बात है इस विषयक ! ऐसा तत्त्व मैं हूँ ऐसा भाव धर्म की

अवस्था में होता है, फिर भी वह पर्याय की मुख्यता नहीं, इतना मैं नहीं। (मैं) अवलंबन लेने योग्य (हूँ) - अवस्था का अवलंबन लेने योग्य मैं हूँ, मैं ज्ञायक का अवलंबन लेता हूँ, ऐसी बात नहीं। ऐसा अहंपना स्थापित (करना), है वहाँ स्थापित करना यह सम्यक् है। फिर भी असम्यक्-सम्यक् दोनों अवस्था की मुख्यता इसके आगे नहीं है। ऐसी एक विशिष्ट प्रकार की बात है !

प्रश्न :- आत्मा तो त्रिकाली है और पर्याय गौण है तो अप्रमत्त में यह कहा कि वो मैं नहीं ?

समाधान :- इतना-इतना - इतना मैं नहीं। पर्याय जितना, इतना हूँ नहीं। यह पर्याय का आधार नहीं न ! पर्याय तो खुद द्रव्य का आधार लेती है। किसका ? द्रव्य का मतलब मेरा आधार लेती है। मेरा आधार तुम लो तो आधार लेनेवाला निर्बल है। जिसका आधार लेते हैं वे सबल हैं, बलवान तो वह है। बस ! मैं बलवान हूँ बात खतम हो गई। मैं बलवान हूँ। मैं निर्बल नहीं कि मुझे किसीका आधार लेना पड़े, ऐसा। मतलब वो मैं नहीं।

इसमें क्या है कि एक समय की अवस्था में मैपना स्थापना वह मिथ्यात्व है। **पर्यायमूढः परसमया** 'प्रवचनसार' का यह सूत्र है। दूसरा अधिकार - 'ज्ञेय अधिकार' ९२ वीं गाथा से शुरू किया (तब) पहली बात यह ली। वहाँ तो अभी द्रव्य का अधिकार - द्रव्यानुयोग चलेगा। द्रव्य सामान्य अधिकार और द्रव्य विशेष अधिकार (चलेगा)। उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव और द्रव्य-गुण-पर्याय (का विषय चलेगा) पदार्थ का बंधारण क्या है वह बताना है। तो कहते हैं कि, पदार्थ का बंधारण द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है, ऐसा कहते-कहते अध्यात्म को स्थापते हैं कि पर्याय का बंधारण द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है फिर भी पर्यायमूढ वह परसमय है, ऐसा साथ में कह देते हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय बताते-बताते इतनी बात बताते जाते हैं कि, पर्याय में मैपना अनादि से स्थापित किया

है, वह पर्याय में मूढपना है, मिथ्यात्वपना है, परसमयपना है, वह जिनमत के बाहर है ऐसा कहते हैं। परसमय किसको कहते हैं ? स्वसमय नहीं वह परसमय है। ऐसा लेना।

प्रश्न :- प्रमत्त-अप्रमत्त कहा इसमें प्रमत्त में तो विकल्प है, अप्रमत्त में तो त्रिकाली का आधार है। त्रिकाली का आधार भले ही पर्याय ले तो फिर वह मैं नहीं, किस Point से कहा है ?

समाधान :- (प्रमत्त दशा है वह) विकल्प है। मैं ज्ञायक हूँ इस Point से कहा है। मैं त्रिकाली ज्ञायक हूँ, अनादि अनन्त-अनन्त गुण से एकरूप सदृश रहनेवाला मैं तत्त्व हूँ। एक क्षण मात्र अधूरी अवस्था भले अप्रमत्त अवस्था है फिर भी वह तो अध्रूरी अवस्था है। चारित्र अधूरा है, ज्ञान अधूरा है, पुरुषार्थ अधूरा है, सुख अधूरा है, बराबर है ? अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तो प्रगट हुए नहीं। मैं कहाँ इतना हूँ ? मैं कोई इतना नहीं। इसलिये मैं नहीं। मैं ऐसा नहीं, मैं अधूरा नहीं ऐसा कहते हैं। आप करोड़ों और अरबों के अरबोंपति हों। उसमें आपकी कोई पहचान करावे कि यह भाई आये हैं। वह बहुत लाखोपति व्यक्ति है हं ! आपको ऐसा लगे कि, यह लाखोपति क्यों कहता है ? मेरे पास तो अरबों के अरबों है। तो उसको तो कम स्थान दिया या ज्यादा स्थान दिया ? उसको तो कम स्थान दिया। ऐसा।

परिपूर्ण आत्मस्वरूप के पास एक समय की ध्यानस्थ मुनिदशा भी अनन्त में भाग है। ऐसा ज्ञान अनन्त वे भाग है, उसका आचरण अनन्त वे भाग है। उसका सुख अनन्तवे भाग में है, पुरुषार्थ अनन्तवे भाग में है। सब अनन्तवे भाग हैं। पूर्ण के पास यह छद्मस्थ की दशा अनन्तवे भाग में हैं। तो फिर उसको अहंपना कैसे आवे ? ऐसा। उच्चपद छोड़कर नीच पदमें जाने का कोई कारण ? ऐसा कहते हैं। वह खुद तो सर्वोत्कृष्ट उच्चपद में है। जो एक समय की छद्मस्थ अवस्था में अहंपना

करे तो नीच पद में अहंपना किया। ऐसा है। स्वरूपज्ञानी को ऐसा होता नहीं। चौथेगुणस्थान से नहीं होता। ज्ञायक जानने में आ गया। अरे...! मैं तो ऐसा हूँ, बाद में एक समय की चौथागुणस्थान की, पाँचवे, छठे की कोई भी अवस्था (हो) इसमें क्या ? कहाँ से अपना पद स्थापे ? कि न स्थापे। बाद में उसका पुरुषार्थ फिर गया।

मुमुक्षु :- पुरुषार्थ का वेग होने का कारण यह है।

पूज्य भाईश्री :- यही कारण है कि अनन्तवीर्य का पींड हूँ बाद में अल्प पुरुषार्थ में, पुरुषार्थ तो प्रगट हुआ न ! पुरुषार्थ तो हुआ न ! वह देखने के लिये वे रहते नहीं ऐसा कहते हैं। ये बनिये दुकान में जाकर धंधा करते हैं (तो) इतनी पूँजी तो हुई न ! अब बस ! ऐसा करते हैं कभी ? पैर घिस जाये तब तक दुकान पर जाते हैं।

मुमुक्षु :- लक्ष परिपूर्ण का है इसलिए पुरुषार्थ...

पूज्य भाईश्री :- उसको जो चाहिये वह अनन्त चाहिये। बाहर में पैसे कितने चाहिये ? जितने आये उतने अनन्त चाहिये। तो आये वह तो गिनता ही नहीं। पहले कुछ नहीं था और अब दस लाख हुए, बाद में फिर पंद्रहलाख हुए, फिर पच्चीस (लाख हुए) वह देखता ही नहीं। और चाहिये... और चाहिये... और चाहिये... यह बाकी रहता है कि नहीं ? क्या होता है ? दृष्टि का विषय अधूरा

नहीं होता। उसमें अल्पता और कमी किसी को पुसाती नहीं। बाहर में जाये तो उस तरफ कम नहीं चाहिये, अन्दर में आये तो इस तरफ कम नहीं चाहिये।

मुमुक्षु :- थोड़ा तो काम हुआ...

पूज्य भाईश्री :- हा, पर अधूरा पहुँचा तो इसमें ज्यादा मानने कि क्या जरूरत है ? अभी तो आधे रास्ते पर पहुँचा है, पूरा करने का ध्येय है। खुद का स्वरूप पूर्ण है और जैसा पूर्ण स्वरूप है ऐसी ही परिपूर्ण दशा हो तो मुझे लायक है, फिर मुझे योग्य है। अधूरीदशा रहे वह मुझे कैसे योग्य हो ? मैं पूरा और मैरी दशा अधूरी ? भूख लगे और आधा खाना मिले तो ? आपको दस रोटी की भूख है, और दो रोटी खाकर उठ जाना पड़े तो कहे, भाई ! बैठना ही नहीं। ऐसा कहते हैं। चाहिये तो पूरा चाहिये। क्योंकि स्वयं पूरा है। बाहर में पूरा चाहिये उसका कारण है। पूरी दुनिया की संपत्ति क्यों कम पड़ती है ? कि स्वरूप से पूर्ण है इसलिए उसे कहीं पूरा पड़ता ही नहीं। सबकुछ अधूरा-अधूरा ही लगे। इसलिये उस तरफ हैरान हो रहा है। इस तरफ पूर्णदशा समझे, पूर्णस्वरूप समझे तो पूर्णदशा प्राप्त न हो तब तक वह पुरुषार्थ छोड़े नहीं और पूर्ण हो तब तक अपनी कार्यपद्धति को छोड़े नहीं।

(यहाँ तक रखते हैं)....

बहिनश्री के वचनामृत ८९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं. ७४ (दि.१९-४-१९८७)

पृष्ठ-३५। ८९ वाँ बोल चलता है। मुनिराज की भक्ति करते हैं। निर्ग्रथ मुनि जंगलवासी महात्मा की अंतरंग दशा कैसी होती है ? समभारूप धर्म कैसा होता है ? जिनके शत्रु-मित्र के विकल्प

नहीं होते और प्रचुर वीतरागदशा होनेपर भी निर्मानता है। अपने पूर्णस्वरूप के आगे वे अपनी दशा को पामर समझते हैं।

आगे ऐसा एक बोल है कि, मुनिराज भी

अपने पूर्ण स्वरूप के साथ अपनी दशा का मिलान करते हैं तो उनको यह लगता है कि, मैं तो पामर हूँ। सामान्य संसारी जीवों से तो वे महान हैं ! बहुत महान हैं !! पंच परमेष्ठीपद में बिराजमान हैं, फिर भी निर्मानता है।

‘देह जाय पर माया होय न रोम में’ देह जाय माने देह छूटने का प्रतिकूलता का प्रसंग आ जाये फिर भी देह बचाने के लिये, शरीर की रक्षा के लिये, तिलतुष मात्र माया का परिणाम जिनको नहीं होता; माया माने गुप्त पाप, ‘गुप्त पापतः माया’ ऐसा सूत्र है। जो गुप्तरूप में पाप परिणाम होता है। जो दूसरे को पता नहीं चले ऐसा व्यक्त नहीं होता है, कभी तो पता चल भी जाता है, ऐसा अव्यक्तरूप में वक्र परिणाम होता है, असरल परिणाम होता है। फिर भी मुनिराज को ऐसा परिणाम देह छूटने की परिस्थिति में भी नहीं होता है। भले ही देह का नाश हो, भले ही देह का अभाव हो, फिर भी उसे बचाने के लिये सीधी तो चेष्टा नहीं करे - Direct परिणाम नहीं करे, Indirect मायाचार से भी ऐसा कोई करना, करवाना या करनेवाले को ठीक जानना, ऐसा वक्रतारूप परिणाम - असरल परिणाम रोम में माने तनिक भी नहीं होता, थोड़ा भी नहीं होता, ज़रा भी नहीं होता। ऐसे उनके परिणाम (होते हैं)।

ऐसा देह पर जिनका ममत्व छूट गया है। इसका मतलब क्या है ? कि, देह पर जिनका ममत्व छूट गया है, जैसे शत्रु-मित्र में समानता है, वैसे ही जीवन-मरण दोनों समान हैं। ‘जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता’ में जिंदा रहूँ तो कोई अधिक काम करूँगा और मेरा प्राण छूट जायेगा तो मेरा काम कम हो जायेगा, ऐसा न्यूनाधिकपना नहीं है। यह समभाव की पराकाष्ठा की गाथा है। जीवित या मरण में जिनको न्यूनाधिकता नहीं है, अरे...! भव-मोक्ष में जिनको समभाव वर्तता है ! अवस्था में भव हो इससे मुझे क्या ? अब मेरे

कब्जे में मेरा परिपूर्ण परमात्मा है, मैं ही खुद परमात्मा हूँ, परिपूर्ण स्वरूप हूँ। अवस्था में कमी-बेसी होती है वह अल्पकाल के लिये अस्थिरता है, अब कुछ लंबी रहनेवाली नहीं है, फिर भी इस पर मेरा वजन नहीं है। यह अल्पकाल रहनेवाली है और अल्पकाल में पूर्ण हो जाऊँगा। इस पर भी इतना वजन नहीं है। यह गौण है।

ऐसा त्रिकाल सदृश एकरूप स्वरूप में एकत्व से समभाव प्राप्त हुआ है, इसलिये **‘सोना हो या तिनका - दोनों समान हैं।’** यह भी समभाव का ही दृष्टांत है। सोना हो या मिट्टी हो, शत्रु हो या मित्र हो, अनुकूलता हो या प्रतिकूलता हो, जीवितपना हो या मरण की दशा आये, प्राणत्याग हो या प्राण का संयोग हो (दोनों समान हैं)। प्राण के संयोग को जीवन कहते हैं, प्राण के त्याग को - वियोग को मरण कहते हैं। और भव हो या मोक्ष हो, ये सब द्वंद्व से पार हो गये हैं, निर्द्वंद्व हो गये हैं, ऐसी निर्मानता है, ऐसा निर्द्वंद्वपना भी है, दोपना नहीं रहा, एकरूप स्वरूप में अद्वैत स्वरूप में द्वैतपना नहीं, द्वंद्वपना नहीं, दोपना नहीं, निर्द्वंद्व हैं। सब समान हैं।

समान है माने ? किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। सोना को सोना जानते हैं, मिट्टी को मिट्टी जानते हैं, मिट्टी को सोना नहीं जानते, सोना को मिट्टी नहीं जानते। फिर भी न सोने के प्रति राग है, न मिट्टी के प्रति द्वेष है।

प्रश्न :- ऐसा क्यों ?

समाधान :- क्योंकि ऐसा अपने मात्रज्ञान स्वरूप में स्थिरीभूत हो गये हैं। एकदम स्थिर हो गये हैं। समभाव में स्थिर हैं। विषमभाव जिनको पैदा नहीं होता है ऐसा समभाव हो गया है। राग और द्वेष विषमभाव हैं। ऐसे विषमभाव में वे आते नहीं। वीतरागदशा, प्रचुर वीतरागदशा में वे झुमते हैं, महालते हैं, विहार करते हैं, विचरते हैं।

वीतरागदशा में विचरना। जंगल में विचरते

हैं वह तो एक कहने की बात है। क्योंकि लोगों की तरह वे शहर में, गाँव में नहीं रहते। असल में तो वे अपने वीतरागभाव में विचरते हैं, इसमें रमणता है।

'सोना हो या तिनका - दोनों समान हैं।' यह भावना का विषय है। मुनिदशा है वह भावना का विषय होता है। **'चाहे जैसे संयोग हों...'** किसी भी प्रकार के संयोग हो। वह तो शुरू से ही, जब दीक्षा काल में प्रतिज्ञा ली है तब ही से यह बात तो हो गई है। कैसे भी प्रसंग हो, कैसे भी संयोग हो, कैसा भी वियोग हो, कुछ भी हो मैं अकेला हूँ। मेरा किसी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भिन्न हूँ माने सर्वथा भिन्न हूँ। देह पर से भी लक्ष्य छूट गया है।

इसलिये तो 'नियमसार' में लिया है कि, जिनको पाँच इन्द्रिय का उपयोग ही नहीं है। इतना उपर-उपर से उपयोग जाता है कि, जैसे उपयोग है ही नहीं ! अन्दर चैतन्यगोले में उपयोग रमण करता है। नजदीक में शरीर है वहाँ भी उनका उपयोग नहीं जाता। (शरीर) है या नहीं है, भूल जाते हैं !

'चाहे जैसा संयोग हों - अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते।' न अनुकूलता का बिलकुल आकर्षण होता है कि, यह ठीक है। भूख लगी थी, आहार का विकल्प हुआ था, अच्छा हुआ कि, आहार मिल गया - यह नहीं (है)। अगर छयालिस दोषमें से कोई भी दोष नजर आये या किसी एक दोष की शंका हो जाये; सामनेवाले का दोष होवे नहीं, लेकिन शंका हो जाये (कि), घर में है तो दो ही आदमी, पति-पत्नी दो ही हैं (तो फिर) इतना रसोई का सामान कैसे ? उसने तो कोई मेहमान आये हो या किसी की खुराक भी ज्यादा हो सकती है, जिसको चावल इतना चाहिये, उसको इतनी मिठाई चाहिये, इसको इतनी चाहिये, इसको इतना

ही चावल चाहिये, (ऐसी) शंका हो जाये तो चले जाये। होवे अनउद्देशिक, अनउद्देशिक होते हुए भी एक दोष की शंका होवे तो उनको - मुनिराज को वैराग्य हो जाता है कि, चलो ! अपने तो अपने स्वरूप में ठीक है। आहार नहीं मिला तो यह अच्छा नहीं हुआ, उपवास हो जायेगा, ऐसा द्वेष नहीं होता। उनको तो यही हुआ कि, चलो ! अपने तो अपने स्वरूप में ही ठीक है। ऐसा कोई जोग ही नहीं है तो अपने स्वरूप में लीन हो जाओ, बस !

ऐसे **'अनुकूलता में आकर्षित नहीं होते, प्रतिकूलता में खेद नहीं करते।'** बस ! उसका खेद - द्वेष नहीं आता। ऐसा क्यों करते हैं ? ऐसा क्यों होता है ? मुनि को कैसा आहार देना यह उसको पता नहीं है क्या ? ऐसा विकल्प उनको आता नहीं। **'ज्यों-ज्यों आगे बढ़े त्यों-त्यों समरसभाव विशेष प्रगट होता जाता है।'**

'ज्यों-ज्यों आगे बढ़े...' माने जैसे-जैसे मुनिदशा में काल व्यतीत होता जाता है, बाहर से ऐसा लगता है कि, जहाँ तक श्रेणि शुरू नहीं की, आठवे, नौवें, दसवें गुणस्थान में नहीं पहुँचे, वहाँ तक मुनिराज को छटा-सातवाँ, छटा-सातवाँ गुणस्थान है, फिर भी उसी गुणस्थान में वे आगे बढ़ते जाते हैं। ऐसा भी एक बोल आयेगा। बाहर से तो ऐसा ही लगे कि, मुनि छठे-सातवें (गुणस्थान में हैं)। लेकिन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, जैसे-जैसे काल व्यतीत होता है निर्जरा बढ़ती जाती है, निर्जरा बढ़ती है, इसका मतलब भाव में शुद्धि विशेष बढ़ती है और वीतरागता बढ़ती है; विज्ञानघन होते जाते हैं, ज्ञानघन होते जाते हैं, आनंदघन होते जाते हैं; ऐसे मुनिराज का जो समरसभाव है, समरस माने वीतरागभाव - समभाव, विषमभाव से विरुद्धभाव। विशेष-विशेष माने अधिक अधिकरूप से बढ़ता जाता है। ऐसी मुनिदशा को भावना में लेते हुए 'धन्य मुनिदशा' कहने में आती है, इसे 'धन्य मुनिदशा'

कहते हैं।

इस ग्रन्थमें से मुनिराज की महिमा और भक्ति के विषयक बहुत से बोल हैं उनको अलग छाँटकर एक पुस्तिका बनाई। अपने यहाँ बनी है, उसका नाम रखा है - 'धन्य मुनिदशा !'

प्रश्न :- भगवान भावलिङ्गी मुनिराज का ऐसा स्वरूप है उसका मूल कारण क्या ?

समाधान :- उसका मूल है अपना मूल स्वरूप। अपना परमात्मपद है उसे लिपटकर बैठ गये हैं। ऐसा परिपूर्ण वीतराग स्वरूप, परमात्मपद, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण सुख (आदि) बेहद स्वभाव का ऐसा घनिष्ट पदार्थ है कि जिसकी ताकत का कोई नाप नहीं है। उपयोग जाते ही उपयोग जिसमें थम जाता है ! ऐसा कोई विशेष स्वभाव है कि उपयोग जाते ही उपयोग जिसमें थम जाता है !! यह इसका मूल है।

मुमुक्षु :- भव दशा से मोक्ष दशा अच्छी है।

पूज्य भाईश्री :- अच्छी है वह तो दोनों की अपेक्षा में, आपस-आपस की अपेक्षा में (अच्छी कहते हैं)। लेकिन अवस्था की अपेक्षा और अपने स्वरूप की अपेक्षा में दोनों समान हैं। जैसे पुण्य और पाप। पाप से तो पुण्य अच्छा ही है, मामूली आदमी भी जानता है। अगर मामूली आदमी इतना जानता है कि, पाप से पुण्य अच्छा है तो तत्त्वज्ञानी नहीं जानता क्या ? तो तत्त्वज्ञानी तो यह कहते हैं, तत्त्वरसिक विरल जीव तो ऐसा कहते हैं कि, दोनों समान हैं। जब ये दोनों समान हैं इसका कहने का मतलब क्या है कि, इससे कोई भिन्न अवस्था है। समभारूप (दशा है) इसमें ये दोनों समान हैं। इस समभाव अवस्था को निर्द्वन्द्व अवस्था कही है। जो कहीं दोपना नहीं करती। राग-द्वेष नहीं करती, इष्ट-अनिष्ट नहीं करती। तो कहाँ तक इष्ट-अनिष्ट नहीं करते ? कि, पुण्य-पाप में तो इष्ट-अनिष्ट नहीं करते, इनके फलरूप अनुकूलता-प्रतिकूलता में इष्ट-अनिष्ट नहीं करते, लेकिन

वर्तमान भव-मोक्ष में भी इष्ट-अनिष्ट नहीं करते।

'सोगानीजी'ने तो वहाँ तक लिखा कि, अवस्था में निगोद के भव हो या सिद्धपद की व्यक्तदशा हो, मुझे क्या ? मैं तो जो हूँ सो हूँ, जैसा हूँ वैसा हूँ। बस ! मैं मेरे स्वरूपमें से बिलकुल विचलित हुआ ही नहीं। अस्खलित स्वभाव में अस्खलितरूप रहता हूँ। यही मेरा स्वस्थान है, यही मेरा स्वरूप है, यही मेरी दृष्टि का विषय है, यही मेरे ज्ञान का विषय है, यही मेरे चारित्र का - रमणता का विषय है। मेरे सभी गुणों के परिणमन का यही विषय है। इसमें सभी प्रकार की अवस्था गौण हैं। ये गौण हैं यह बताने के लिये गौणता में विषमता नहीं होती। जिसकी गौणता होती है उसकी विषमता नहीं होती।

प्रश्न :- आहार मिले अथवा कम मिले उसमें मुनिराज को क्या फायदा है ?

समाधान :- न फायदा है, न नुकसान है। आहार मिलने से न कोई फायदा है, नहीं मिलने से कोई नुकसान नहीं है। वे अपनी आत्मा को अनआहारक स्वभावी जानते हैं, मानते हैं और उसीमें रमणता करते हैं। फिर भी परिपूर्ण वीतराग दशा नहीं होने से बाह्य चारित्र और बाह्य संयमवहन के हेतु, चारित्रवहन के हेतु, संयम के पालन हेतु थोड़ा आहार का विकल्प उठता है, वह भी संज्वलन कषायरूप मंद भाव है। अगल छयालीस दोष में से एक दोष का पता चल जाये तो उसका यह जो विकल्प है वह शान्त हो जाता है। यह विकल्प सिद्ध नहीं होता इसलिये वे अशांत नहीं होते। आहार का विकल्प सिद्ध नहीं हुआ, विकल्प अनुसार प्रक्रिया नहीं हुई तो वे अशांत नहीं होते। वे अधिक शांत हो जाते हैं। कभी-कभी तो दिन पर दिन, दिन पर दिन (बीत जाते हैं लेकिन आहार का योग नहीं बनता)।

भगवान 'ऋषभदेवस्वामी' छः महीने तक लगातार नगर में आते रहे (फिर भी आहार का

योग नहीं हुआ तो) एक दिन भी उनको द्वेष नहीं आया। एक क्रोडाक्रोडी पूर्व के पहले के इतिहास को बराबर कह सकते हैं कि, एक दिन भी वहाँ उनको द्वेष नहीं आया था। छः महीने तक नगर में आये, वापस गये (और अपने) ज्ञान-ध्यान में लीन हो गये। छः छः महीने तक ! एक दिन भी अशान्त नहीं हुए। अशान्त होवे तो मुनिदशा नहीं रहती। कषाय बढ़ जाता है। (लेकिन इतना कषाय) मुनिदशा में नहीं बढ़े, अपने आहार के विषय में इतना कषाय

नहीं बढ़े, फिर दूसरे विषय में कषाय कैसे बढ़े ? रजोणा लेकर मारे वह बात हमारे अन्दर नहीं है। अभी तो गड़बड़ यहाँ तक (चलती) है। अपना आहार छूट जावे (तो) कोई सवाल नहीं। आनन्द का आहार लेने लग जाते हैं। आनन्द-अमृत का भोजन लेते हैं और उस भोजन में अपनी आत्मा तृप्त-तृप्त हो जाती है। अत्यंत तृप्त हो जाते हैं। यह हुई मुनि भगवान की भक्ति की बात ! यह भक्ति का विषय है।

पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानी जन्म शताब्दी महोत्सव आनंद-उल्लासपूर्वक संपन्न

भावि तिर्थाधिनाथ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के महापुराण के पात्र पूज्य श्री निहालचन्द्रजी सोगानी का जन्म शताब्दी महोत्सव दिनांक ११-५-२०११ से १३-५-२०११ पर्यंत सुवर्णपुरी तीर्थधामस्थित 'गुरु-गौरव' स्मारक भवन में अत्यंत आनन्दपूर्वक मनाया गया। इस अवसर पर बाहरगाँव से अनेक मुमुक्षु भाई-बहनोने पधार कर त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम का लाभ लिया।

दिनांक ११-५-२०११ के दिन श्री सोगानी परिवार के सदस्यों द्वारा एक ज्ञानगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसका संचालन श्री संजय शास्त्री, मंगलायतन द्वारा किया गया था।

दिनांक १२-५-२०११ के दिन कलकत्ता मुमुक्षु मण्डल द्वारा 'धन्य पुरुषार्थी श्री सोगानीजी' नाम का भव्य नाटक किया गया, जिसमें पूज्य श्री सोगानीजी की अंतरंगदशा का संक्षिप्त परिचय दिया गया था।

दिनांक १३-५-२०११ के दिन पूज्य गुरुदेवश्री के श्री प्रवचनसारजी परमागम पर के धारावाही प्रवचन 'प्रवचनसुधा भाग-५ (हिन्दी)' की अर्पणविधि की गई। तत्पश्चात् पारणाञ्जुलन, जन्म वधामणा, भक्ति आदि कार्यक्रम हुए।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-२७ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.५-८-१९९१

'परिणाम शुभ हैं, अशुभ हैं, इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है...' अब अपनी बात करते हैं। परिणाम शुभ भी हैं, अशुभ भी हैं और थोड़ा-बहुत पुरुषार्थ उसमें भी लगता है। उसमें भी दो भाग हैं। जैसे चारित्र्यमें दो भाग हैं वैसे पुरुषार्थमें भी दो भाग हैं। अतः (पुरुषार्थ) विभाजित होकर शुभ-अशुभमें जाता ही है। 'इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है आदि ध्रुवकी एकता सहितके ज्ञानमें आता रहता है।' मेरे ज्ञानमें आता है परंतु कैसा है ज्ञान ? ध्रुवके साथ एकत्वरूप जो ज्ञान है, उस ज्ञानमें ये सब मुझे समझमें आता है। कितना पुरुषार्थ लग जाता है, शुभ विकल्प आता है, अशुभ विकल्प आता है, यह सब ज्ञानमें आता है; परंतु ध्रुवकी एकतावाले ज्ञानमें, उसे छोड़कर नहीं। उसमें एकाकार रहकर (अन्य सबका ज्ञान होता है।) 'इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है) आदि ध्रुवकी एकता सहितके ज्ञानमें आता रहता है। श्रद्धाकी अखण्ड एकताके साथ ही चारित्र्यकी अखण्डता भी ध्रुवके साथ हो जाये, यह ही लक्ष्य है;... देखो ! परिणाम अपेक्षासे क्या लक्ष्य है ? कि जैसे श्रद्धा पूरी-पूरी (स्वरूपके साथ) अखण्ड एकरूप हो गई है, वैसे चारित्र्यमें भी - स्थिरतामें भी अखण्ड एक ध्रुवके साथ पूरा-पूरा चारित्र्य प्रगट हो जाये, पूर्णदशा (प्रगट) हो जाये, यह लक्ष्यमें है। यह भी एक लक्ष्य है।

'यह ही लक्ष्य है; व यथार्थ श्रद्धाके साथ ऐसा ही होगा,...' (अर्थात्) त्रिकालीकी जो श्रद्धा है उसमें तो ऐसा ही होगा, पूर्णता है वह भी हो जायेगी। 'यह ही नियम है।' यानी कि मोक्षदशा प्रगट हो जायेगी, इसकी प्रतीति है, ऐसा भी एक नियम है। 'इसके हुए बिना, मात्र ऐसा हुए बिना,

जीवको चैन नहीं।' (यानी कि) मुझे चैन नहीं पड़ेगा। जब तक मेरी पूर्णदशा नहीं होगी तब तक मेरा पुरुषार्थ अटकेगा नहीं और कहीं भी चैन पड़े और अटक जाये ऐसा नहीं बनेगा। बहुत स्पष्ट लिखा है। अपनी दशाकी बात बहुत स्पष्ट लिखी है। अगर उन्होंने अपनी दशाकी बात इतनी स्पष्ट लिखी होनेके बावजूद भी, वह दशा ऐसी नहीं है, ऐसा गुरुदेवके ज्ञानमें आया होता तो ये पुस्तक फिरसे प्रगट करनेकी संमति नहीं दी होती, फिरसे प्रगट की है, उनकी आज्ञा लेकर प्रगट की है। पहलीबार उनकी आज्ञा लेकर (प्रगट) की थी लेकिन उन्होंने पढ़ी नहीं थी। पढ़नेका प्रयत्न किया, लेकिन वैसा योग नहीं बैठा। खुदने ना कहा, बादमें पढ़ा। फिरसे उसका गुजराती अनुवाद किया और फिर वापिस प्रकाशित किया। ये बात उन्होंने लिखी है परंतु ऐसी दशा उनकी नहीं थी फिर भी लिखी है, ऐसा उल्लेख कभी भी नहीं किया है। ज्ञानदशाका स्पष्ट चितार है। उन्हें ज्ञानदशा नहीं है, ऐसा तो (गुरुदेवने) नहीं कहा परंतु उलटा यूँ कहा कि, बहुत पुरुषार्थ ! झपट करेंगे !

मुमुक्षु :- इस पुस्तकको शास्त्र भी कहा न !
पूज्य भाईश्री :-हाँ, शास्त्र भी कहा है। पाँच साल बाद वह प्रसंग बना था। २३के सालमें प्रथम प्रकाशन किया, फिर २८के सालमें (प्रकाशन किया)। ५०० पुस्तकें, तीसरा भाग बाईन्डींग किये हुए सब दे दिये गये। (सामाजिक) उहापोह हुआ इसलिए जो बची हुई थी उनका बाईन्डींग नहीं करनेकी



बात पहलेसे नक्की हुई थी, अतः उनके पत्रे खुले हुए ही रख दिये थे। परंतु हमने पत्रे (खुले) रखनेके बजाय तीसरा भाग अलगसे बाँधकर अलमारी भर दी। पुस्तकें सँभालकर रख दी थी। पाँच साल बाद गुरुदेवको खयाल आया (कि) ये पुस्तकें जितनी दे दी गई, उतनी तो नहीं थी, दूसरी बची थी उनका क्या किया इन लोगोंने ? इसलिए सामनेसे चलाकर पूछा कि, उस दिन ये तीसरे भागके पत्रे छुट्टे रखनेकी बात हुई थी तो फिर क्या किया इनका ? तब मैंने कहा '(पत्रे) छुट्टे तो नहीं रखे परंतु उसका भी - तीसरे भागकी अलग-से पुस्तक बनाकर अलमारीमें रख दी है। अभी तो पाँच साल हो गये तो पत्रे भी पीले होने लगे हैं।' (कागज)का इस्तेमाल करो या न करो फर्क तो पड़ेगा ही। उसका परिणामन तो बदलता ही रहता है। (ऐसा सुना तो कहा कि) 'हैं ! पत्रे तो पीले हो ही जायेंगे, ठीक बात है, क्योंकि कागज है। यह तो शास्त्र है ! अशातना हो जायेगी !' क्या बोले ? चर्चाके विभागको शास्त्र कहा !! क्योंकि ज्ञानीके वचन हैं न ! (वह तो) शास्त्र है, अशातना हो जायेगी ! (फिर कहा) 'ऐसा करो अभी छूटसे देने लगे ! जब भी ले आओगे ब्रह्मचारी बहिनोंको दे देंगे।' इस तरह फिर छूटसे देने लगे। ये १६०० पुस्तकें बहुत जल्दीसे दे दी गई ! ५०० पुस्तकें देनेमें पाँच साल लगे ! और बाकीकी १६०० पुस्तकें तो बहुत जल्दीसे दे दी गई। शुरु-शुरुमें तो गुरुदेवके रूममें २५-२५, ५०-५० (पुस्तकें) रख देते थे, बादमें २००-२०० रखते थे ! २०० खतम होनेपर दूसरी २०० रख देते थे। इसतरह २१०० पुस्तकें अपने हाथोंसे दी ! हमने किसीको एक भी नकल नहीं दी। (जिस-जिसको पहले) दी थी वह भी वापिस मँगवा ली। उस उहापोहके दौरान किसीको पढ़ने दी थी वह भी वापिस मँगवा ली। (क्योंकि) गुरुदेवने कहा है कि, मैं अपने हाथसे

दूँगा, फिर अपनेको बाहरमें भी चुस्त रहना चाहिए। भले ही गुरुदेवको पता नहीं है कि मैंने आपको दी है, वे कोई गिननेवाले नहीं हैं कि ये ५००में दो कम हैं। किसी नजदीके परिचयवालेको दी थी लेकिन वह भी वापिस मँग ली। कोई-कोई मुमुक्षुओंने हाथसे लिख ली थी, तो जब गुरुदेवश्रीको पता पड़ा तो उन्होंने प्रशंसा की थी।

यह पुस्तक पढ़नेके बाद तो बहुत ही बोलते थे। प्रकाशनके पहले जैसे ही यह पुस्तक दी (कि) बहुत प्रशंसा की थी। उसे लेकर ही विरोध हुआ था। क्योंकि अभी तो काल ऐसा है कि, किसीकी अधिक प्रशंसा होते ही थोड़ी विपरीतता हो जाती है।

मुमुक्षु :- अपरिणामी शब्दका बहुत विरोध हुआ था ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अपरिणामीका बहुत विरोध हुआ था। वैसे भी 'निश्चयाभासी हैं, निश्चयाभासी हैं, ऐसी बात चलने लगी थी। ज्यादा विरोधकी शुरुआत 'अनायतन' (शब्दसे) हुई थी। 'सच्चे देव, गुरु, शास्त्र भी निश्चयसे अनायतन हैं' यह बातसे (लोग) बहुत भड़के।

मुमुक्षु :- गुरुदेवने सारी स्पष्टता की है।

पूज्य भाईश्री :- सब लोग भड़के लेकिन गुरुदेवने ऐसा ही जवाब दिया कि, परम सत्य है !! ये शब्द (कहते थे)। परम सत्य है !! इतने शब्द गुरुदेवने कहे। गुरुदेवकी उपस्थितिमें विरोधी लोग बोलने लगे किन्तु गुरुदेवने ऐसा कहा कि, परम सत्य है !! परंतु कोई सुनते नहीं थे गुरुदेवको !!! यह प्रसंग जब बना तब मैं तो आश्चर्यमें डूब गया !! कि अरे...! गुरुदेव ऐसा कहे फिर भी उनके सामने भी विरोध !!! यह बात तो हमारी समझमें नहीं आती है। यह भक्तिका प्रकार कैसा ?!! एक तरफ चरणस्पर्श करते हैं और दूसरी ओर उनके अभिप्राय विरुद्ध बात करते हैं !! ये क्या चलता है ? गुरुदेवने अंगत चर्चामें तो मुझे

काफी कहा था, काफी कुछ कहा था परंतु बाहरमें बोलना ठीक नहीं। ऐसी काफी बातें हैं कि बाहरमें नहीं बोल सकते। व्यक्तिगत बातें नहीं बोल सकते। चुन-चुनकर कहा है कि, यह ऐसा कहता है, वह ऐसा कहता है, फलाना ऐसा बोलता है, फलाना निश्चयाभासी कहता है, फलाना ऐसा कहता है ! नाम देकर बात कही है। (ऐसा) कहा, क्या करें शशीभाई? ३०-३०सालसे सामने बैठकर सुनते हैं !! (फिर भी बात) नहीं बैठती है !! क्या करें? उस दिन ३० साल बोले थे। ३० सालसे सुननेवालेको यह बात नहीं बैठती है !! (वरना) वे तो धन्य हैं कि जिसने एक व्याख्यानसे पता लगा लिया ! पाताल तोड़ दिया !! ३० सालसे जिसको पता नहीं लगा, यह एक ही व्याख्यानमें (इन्होंने पता लगा लिया !) गजब काम किया है !!!

(यहाँ क्या कहते हैं) कि 'अन्य तरफके रागमें निरंतर रस नहीं, चाहे क्षणिक रस दिखाई भी दे।' देखो ! क्षणिक रस है, ऐसा कहा । निरंतर रस नहीं (परंतु) क्षणिक रस है। 'शुभ निमित्तोंके संगमें अधिक मंद कषायादिक होनेसे स्थिरता भी अधिक व शीघ्र होती रहती है,...' क्योंकि उसमें मलिनता घटती है न ! (इसलिए) रस पतला पड़ता है। अशुभमें तीव्र मलिनता है, इसमें (शुभमें) मंद मलिनता है। 'यह भी ज्ञानमें है,...' (अर्थात्) वह खयालमें है। 'परंतु मुख्य संग तो निर्बाध अपराधीन चेतनका ही है,...' अपराधीन माने अपराध नहीं (लेकिन) पराधीन नहीं वह - स्वतंत्र। 'परंतु मुख्य

संग तो निर्बाध अपराधीन चेतनका ही है,...' मेरा चैतन्य स्वतंत्र है उसका संग मुख्यरूपसे मुझे वर्तता है, दूसरा कोई मुख्य संग मुझे नहीं वर्तता। 'अन्य संग तो उदयाधीन है।' (यानी कि) मुझे इसकी कोई मुख्यता नहीं है। उदयाधीन जो संग है इसकी मुझे कोई मुख्यता नहीं है। मुख्य संग तो मेरे स्वरूपका है। 'अधिक लिखनेमें सार नहीं। उधर आनेके विकल्प भी बहुवार उठते हैं पर अधिक जोर नहीं खाते। विकल्प तो कईबार आते हैं, परंतु इतने जोरपूर्वक नहीं आते।

'आपके पत्रोंके मात्र उधर आने बाबत लिखे होनेका, अतः क्या जवाब दूँ ?' (अर्थात्) आप तो एक ही बात लिखते हो कि, यहाँ आईये, यहाँ आईये ! परंतु बार-बार आपको इसका जवाब क्या दूँ? 'मेरी ऐसी स्थितिमें आप वहाँके रोज़ाना या हफ्तेके खास-खास गुरुदेवश्रीके न्याय आदि लिखो तो अधिक प्रिय लगेंगे।' (यानी कि) हफ्तेमें या किसी दिन गुरुदेवके व्याख्यानमें कोई विशेष बात आयी हो, उसे यदि लिखेंगे तो ज्यादा अच्छा है। गुरुदेवकी बात लिखो न ! मुझे वह प्रसंग अधिक प्रिय लगेगा। 'आना तो होगा जब होगा, शायद जल्दी आ भी जाऊँ, ऐसा योग भी दिखता तो है।' ऐसा योग भी दिखता है कि, शायद जल्दी आना हो भी जाये। १९६२के सालमें थोड़ी अनुकूलता (हुई थी), फिर तो हर साल आते थे। धंधा थोड़ा ठीक बैठ गया था तो सालमें एकबार भी आ सकते थे।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जून-२०११) का शुल्क श्री नैशा भावीनभाई सावला, (मुंबई) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

हो और जिसे यथार्थ जिज्ञासा जगे तो वह अंतरमें से अपने स्वभाव का आधार लिये बिना रहता ही नहीं, स्वभाव को पहिचान ही लेता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२०)



प्रश्न :- कल बात हुई थी कि भावना भावना में बड़ा अन्तर होता है। एक भावना तो इतनी प्रबल होती है कि अंतर को भेद डाले ?

समाधान :- भावना ऐसी उग्र हो कि अंतरमें भेदज्ञान हो तभी छुटकारा हो। मन्द-मन्द भावना अथवा ऊपरी-ऊपरी भावना या मंद-मंद पुरुषार्थ किया करे, वह उग्र भावना नहीं है। यह तो अंतर को भेद डाले - अंतरमें से भेदज्ञान प्रगट कर दे - ऐसी भावना कोई जुदी ही होती है। अंतर से चैतन्य के मार्ग में चलने पर उसे शुद्ध परिणति प्रगट होती है और विभावपरिणति पृथक् हो जाती है। अल्प विभावपरिणति अपूर्णता के कारण होती है, परन्तु यह भेदज्ञान करती है कि मैं तो चैतन्य हूँ, यह विभाव मेरा नहीं है। - इस प्रकार अंतर को भेदकर उसकी परिणति चैतन्य की ओर दौड़ जाती है और वह अपने स्वभाव को ग्रहण कर लेती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२२१)



प्रश्न :- आप कहते हैं न कि भले ही ऊपर-ऊपर से कर, परन्तु किसी भी प्रकार उस मार्ग पर जा।

समाधान :- हाँ, उस मार्गपर जा। अंतर में अपना लक्ष्य और भावना ऐसी रख कि गहरे उतरने जैसा है। करना तो गहराईमें (ज्ञायक में) है, परन्तु मुझ में अभी बहुत अपूर्णता है ऐसे निर्णय करके गहराई का लक्ष्य करने का प्रयत्न कर। ऊपर-ऊपर से जो होता है उसे छोड़ नहीं देना, क्योंकि हम तुझे अशुभ में आने को नहीं कहते, तथा शुभ में रुकने को भी नहीं कहते; तुझे तीसरी भूमिका में जाने को कहते हैं; हम ऊँचे-ऊँचे जाने को कहते हैं और तू ऐसेमें नीचे कहाँ गिरता जाता है ! - ऐसा आचार्य कहते हैं। हमारे कहने का आशय यह है कि तू तीसरी - शुद्धस्वभाव की-भूमिका प्रगट कर।

शुभ तो बीच में आता है, परन्तु वह तेरा स्वभाव नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों एक कोटिके हैं ऐसा तू समझ और आत्मा की जो तीसरी भूमिका अमृतकुम्भ है उसे ग्रहण कर। इसलिये ऊँचे चढ़ने को कहते हैं, परन्तु जो भावना ऊपर-ऊपर से आये उसे छोड़ देने को नहीं कहते। यदि गहरी भावना प्रगट करके शुद्धस्वभाव में जा सके तो उसे प्रगट कर; परन्तु न जा सके तो उसे छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहते। ऊपरी भावना कुछ काम की नहीं ऐसे उसे समझ के छोड़ करके उसे छोड़नी नहीं है, किन्तु तू उच्च परिणति प्रगट कर यों कहने का आशय है।

भगवान के मन्दिर में दर्शन करने के लिये फिरे और भगवान के द्वार न खुले तो थक कर लौट नहीं आता, भगवान के द्वार खुल जायेंगे; तू चक्कर लगाना मत छोड़ना। उसी प्रकार तू चैतन्यमन्दिर में फिरा कर कि मैं चैतन्य हूँ। पहले तुझे ऊपर-ऊपर से समझ में आये उसे छोड़ना नहीं। जबतक चैतन्य पहिचानने में न आये तबतक वहाँ फिरते ही रहना, लक्ष्य रखना कि मुझे अभी बहुत आगे जाना है। तेरा पुरुषार्थ उभरने पर चैतन्यमंदिर के खुलने का तुझे अवकाश है। यदि दूर जायेगा तो तू उलटा और दूर चला जायेगा। दृष्टि बराबर रखना कि अभी मुझे भीतर जाना है। ऊपरी भावना से कुछ प्रगट नहीं होता, परन्तु अंतरंग भावना प्रगट करने हेतु तू समझना कि यह तो ऊपरी है; अभी मुझे अंतरंग कार्य करना बाकी है, - ऐसे यथार्थ समझे तो आगे जा सकेगा। ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ ऐसे ऊपर-ऊपर से हो तथापि तू अंतर में जाने की भावना को मत छोड़ना। ऊपरी भावना छोड़ने को नहीं कहते। अंतरंग भावना ऐसी होती है कि जिससे भेदज्ञान होता है और अंतर को भेद देती है। चैतन्यमंदिर के द्वार खुल जाये और चैतन्य-भगवान प्रगट हो वह भावना कोई भिन्न प्रकारकी होती है। परन्तु तू ऊपरी भावनाको दृढ़ करते रहना - उसमें कभी तेरा उग्र पुरुषार्थ होगा तो अंतर में जा सकेगा। दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर रखना। (स्वानुभूतिदर्शन-२२२)



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- होना हो वह क्रमानुसार होता है, इसलिये नवीन पुरुषार्थ करने की क्या जरूरत है ?

समाधान :- जो होना है वैसा हो - ऐसा एकान्त नहीं है; उसमें स्वभाव-काल-पुरुषार्थ सब साथ होते हैं। वहाँ पुरुषार्थ का कारण मुख्य है। जो पर्याय प्रगट होनी हो वह होती है, परन्तु उसमें पुरुषार्थ साथ होता है। पुरुषार्थ बगैर कोई पर्याय प्रगट हो ऐसा नहीं होता। स्वभाव-काल-पुरुषार्थ-देशनालब्धि सब साथ होते हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-२१६)



प्रश्न :- भावना और धारणा में क्या अन्तर है ?

समाधान :- धारणा में तो धोख (रट) रखा है और भावना तो अंतर में स्वयं भावपूर्वक करता है। भावना भावना में भी फेर होता है। भावना किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, परन्तु अपने अंतरमें से आयी हुई भावना हो वह जुदी होती है। मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ ऐसे ऊपरी भावना तथा गहरी जो अंतर्गत भावना वह और ही कुछ होती है। धारणा में तो धोखा (रटा) करता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२१७)

प्रश्न :- बारम्बार एक ही प्रकार के विचार चलते रहें वह भावना कहलाएँ ?

समाधान :- विचार चलते रहें वह नहीं, परन्तु अंतरमें से-गहराईमें से - वैसे होना चाहिये वह भावना है। मात्र धोखा करे या खाली विकल्प किया करे कि मैं त्रिकाल शुद्ध-शुद्ध हूँ ऐसे नहीं। भावना में विचार तो आते हैं तथापि अंतरमें से अपना हृदय भेदकर कुछ आना चाहिये। भावना अर्थात् अंतरंगमें से आना चाहिये कि यह कोई विभाव मुझे नहीं चाहिये; मैं तो त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ, स्वयंसिद्ध ज्ञायक हूँ। - इसप्रकार अंतर से, अंतरंग में

हृदय भेदकर आना चाहिये।

(स्वानुभूतिदर्शन-२१८)



प्रश्न :- ज्ञानमें तो समझ पड़ती है, परन्तु विश्वास नहीं आता।

समाधान :- ज्ञान में समझ पड़े, किन्तु प्रतीति ऐसी यथार्थ होनी चाहिये कि - यह ज्ञायक सो ही मैं हूँ, दूसरा कोई मैं नहीं। ऐसी दृढ़ श्रद्धा-दृष्टि अपने पर स्थापित करनी चाहिये। फिर चाहे जो भाव आयें तथापि मैं चैतन्य ही हूँ - ऐसा अंतर से होता है। घोखनेरूप हो वह अलग बात है। यहाँ अंतरमें से दृढ़ विश्वास आना चाहिये। यथार्थ प्रतीति हो उसे यथार्थ पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता।

(स्वानुभूतिदर्शन-२१९)



प्रश्न :- वचनामृत में आता है कि-उलझनमें से मार्ग मिलता है, वह कैसे ?

समाधान :- उलझन सच्ची हो तो उसे मार्ग मिले बिना रहता ही नहीं - ऐसा वस्तु का स्वरूप है। उलझा हुआ व्यक्ति उलझनमें टिक ही नहीं सकता। इन विकल्पों के जालमें फँसा हुआ, उलझा हुआ कि जिसे शान्ति नहीं है, अशान्ति है वह एक क्षण भर भी उसमें टिक नहीं सकता। जिसे अंतर से यथार्थ उलझन लगे कि यह विकल्प अब चाहिये ही नहीं, तो वह उनमें टिक ही नहीं सकता। और उसकी परिणति अपनी ओर मुड़े बिना रहती ही नहीं-अर्थात् वह ज्ञायक को पहिचाने बिना रहता ही नहीं, ज्ञायक की शरण लिये बिना रहता ही नहीं। जैसे सचमुच आकुल हुआ मनुष्य चाहे जिसका आधार लेने जाता है, उसी प्रकार अंतरंग से अकुलाया हुआ मनुष्य अपने स्वरूप का आधार लिए बिना रहता ही नहीं। वह अपने स्वभाव को ग्रहण कर ही लेता है। इसलिये जो वास्तव में आकुल

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-२० पर)



५७३

बंबई, फागुन वदी ११, शुक्र, १९५१
जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से समस्त संसार अशरण है।
जिसने सर्वथा उस संसार की आस्था छोड़ दी है, वही आत्मस्वभाव
को प्राप्त हुआ है, और निर्भय हुआ है। विचार के बिना वह स्थिति
जीवको प्राप्त नहीं हो सकती, और संग के मोह से पराधीन इस
जीवको विचार प्राप्त होना दुर्लभ है।



आ.स्व. प्रणाम।

५७४

बंबई, फागुन, १९५१
यथासंभव तृष्णा कम करनी चाहिये। जन्म, जरा, मरण किसके है ? कि जो तृष्णा रखता
है, उसके जन्म, जरा, मरण हैं। इसलिये तृष्णा को यथाशक्ति कम करते जाना।

५७५

बंबई, फागुन, १९५१
जब तक यथार्थ निज स्वरूप संपूर्ण प्रकाशित हो तब तक निज स्वरूप के निदिध्यासन में
स्थिर रहने के लिये ज्ञानीपुरुष के वचन आधारभूत हैं, ऐसा परम पुरुष श्री तीर्थकरने कहा है, वह
सत्य है। बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाले आत्मा को निदिध्यासनरूप ध्यानमें श्रुतज्ञान अर्थात् ज्ञानी के
मुख्य वचनों का आशय वहाँ आधारभूत है, ऐसा प्रमाण जिनमार्ग में वारंवार कहा है। बोधबीज की
प्राप्ति होनेपर, निर्वाणमार्ग की यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्ग में यथास्थित स्थिति होने के लिये
ज्ञानीपुरुष का आश्रय मुख्य साधन है, और वह ठेठ पूर्ण दशा होने तक है; नहीं तो जीव को
पतित होने का भय है, ऐसा माना है। तो फिर अपने आप अनादि से भ्रान्त जीवको सद्गुरु के
योग के बिना निजस्वरूप का भान होना अशक्य है, इसमें संशय क्यों हो ? जिसे निज स्वरूप
का दृढ निश्चय रहता है, ऐसे पुरुष को प्रत्यक्ष जगतव्यवहार वारंवार मार्गच्युत करा देने वाले प्रसंग
प्राप्त कराता है, तो फिर उससे न्यूनदशामें जीव मार्ग भूल जाये, इसमें आश्चर्य क्या है ? अपने विचार
के बलसे, सत्संग-सत्शास्त्र का आधार न हो ऐसे प्रसंग में यह जगतव्यवहार विशेष बल करता है,
और तब वारंवार श्री सद्गुरु का माहात्म्य और आश्रय का स्वरूप तथा सार्थकता अत्यंत अपरोक्ष
सत्य दिखायी देते हैं।

५८५

बंबई, चैत्र वदी ११, शुक्र, १९५१

‘जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव रे।

ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे।।’

सत्संग नैष्ठिक श्री सोभाग तथा श्री डुंगर के प्रति नमस्कारपूर्वक,
सहज द्रव्य के अत्यंत प्रकाशित होनेपर अर्थात् सर्व कर्मों का क्षय होनेपर ही असंगता कही
है और सुखस्वरूपता कही है। ज्ञानीपुरुषों के वे वचन अत्यंत सत्य हैं; क्योंकि सत्संग से उन वचनों
का प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रगट अनुभव होता है।

निर्विकल्प उपयोग का लक्ष्य स्थिरता का परिचय करने से होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र,
सद्विचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरता के हेतु हैं।